

उपनिषदों में जीवन दर्शन



डॉ. ऋतु शुक्ला

असि०प्रो०(संस्कृत)

राजकीय महाविद्यालय तिलहर, शाहजहाँपुर,

उत्तर प्रदेश, भारत।

शोध आलेख सार—ज्ञानराशि स्वरूप समस्त वेदों की सारभूत उपनिषद् संस्कृत वाङ्मय की अनुपम धरोहर है। स्वयं के अन्दर आत्मज्ञान, मानवीय मूल्य, ऐहिक, आमुष्मिक, लोककल्याणकारी तत्त्वों का समावेश किए हुए ये उपनिषदें ज्ञानपुंज हैं जिनके परिशीलन एवं आत्मसातीकरण से मनुष्य संसार में रहकर निरासक्त भाव से कर्म करते हुए समस्त राग द्वेष तथा उससे उत्पन्न दुःख से दूर रहकर आत्मज्ञान प्राप्ति की पात्रता प्राप्त कर लेता है। उपनिषद् के अनुशीलन से संसार की कारणभूत अविद्या अथवा अज्ञान का नाश हो जाता है। इसी अविद्या के कारण ही वह ईश्वर सत्ता को समझने तथा अनुभूत करने में असमर्थ रहता है। प्रस्तुत शोध पत्र में विभिन्न उपनिषदों में वर्णित असंख्य दार्शनिक तत्त्वों का उद्घाटन करने का प्रयास किया गया है जिसको अपने जीवन में आत्मसात करने वाला मनुष्य स्वयं के लिए निःश्रेयस का मार्ग तो प्रशस्त करता ही है साथ ही मानव समाज के अभ्युदय में भी योगदान देता है।

मुख्य शब्द—ब्रह्मविद्या, पुरुषार्थचतुष्टय, विदेहमुक्ति, मुमुक्षु, पंचतन्मात्राएँ, आत्मतत्त्व, निःश्रेयस, औपनिषदिक, परिष्करण।

‘उप’ और ‘नि’ उपसर्ग पूर्वक ‘सद्’ धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग हैं, इसलिए इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। वेदों में निहित सारभूत आध्यात्मिक ज्ञान उपनिषदों में निबद्ध है। उपनिषदों की गणना प्रस्थानत्रयी में की गई है। उपनिषद् का तात्त्विक अर्थ ब्रह्मविद्या भी है। तैत्तिरीयोपनिषद् के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने लिखा है कि जिस विद्या के

अनुशीलन से संसार की बीजभूत अविद्या नष्ट होती है, जो ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली है तथा जिससे दुःखों का सर्वथा शिथिलीकरण हो जाता है वह अध्यात्मविद्या उपनिषद् है। उपनिषदों में मानवमात्र के लिए ऐहिक सुख के मूलमंत्र ही निहित नहीं है अपितु ब्रह्मविद्या प्रतिपादक होने के कारण ये मनुष्य को चरम लक्ष्य की प्राप्ति भी करा सकती है। पुरुषार्थचतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में परम निःश्रेयस मोक्ष ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है। इस अमृततत्त्व प्राप्ति के मार्ग का प्रतिपादन उपनिषद् दर्शन में हुआ है।

‘दृश्यते इति दर्शनम्’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो देखा या जाना जाय वह दर्शन है। अतः दर्शन शब्द परमतत्त्व या परमसत्ता के ज्ञान का सूचक है। एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार ‘दृश्यते अनेन इति दर्शनम्’ अर्थात् जिसके द्वारा देखा या जाना जाय वह दर्शन है। इस प्रकार दर्शन शब्द से उन साधनों या प्रमाणों का बोध होता है जिनसे परमतत्त्व का ज्ञान होता है। भारतीय विचारधारा में दर्शन का जीवन के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। दर्शन मात्र तत्त्वज्ञान प्राप्ति ही नहीं है दूसरों के कल्याण का साधन है। इस विराट ब्रह्माण्ड के असंख्य एवं अद्भुत पदार्थों के समक्ष जीवन की स्थिति एवं उसकी सत्ता क्या है? यह जगत क्या है? इस जगत का कर्ता कौन है? सुख—दुःख, हँसना—रोना आदि विभिन्न क्यों का अभिप्राय क्या है? इन सभी जिज्ञासाओं का समाधान हमें उपनिषद् दर्शन में प्राप्त होता है। छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय में नारद सनत्कुमार जी से निवेदन करते हैं— हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इतिहास पुराण रूपी पंचम वेद, नीति, तर्कशास्त्र, नृत्य संगीत आदि अनेक विद्याओं का अध्ययन किया है परन्तु मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ। आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने आप जैसे महात्माओं से सुना है कि जो आत्मा का साक्षात्कार करता है, वहीं शोक के पार जाता है। हे भगवन् मैं शोक मग्न हूँ। मुझे शोक से पार कर दीजिए **‘तरति शोकमात्मवित्’**।

अतः विभिन्न श्रुतियों तथा उपनिषदों द्वारा वर्णित आत्मा के स्वरूप को प्रस्तुत शोधपत्र में उदभासित करने का प्रयास किया गया है जो तत्त्वज्ञानियों तथा मुमुक्षु साधुजनों द्वारा आकांक्षित है। संसार के त्रिविध दुःखों — आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक की आत्यन्तिक निवृत्ति ही सुख का आधार है। इन त्रिविध दुःखों के आत्यन्तिक नाश एवं अखण्ड आनन्द की प्राप्ति ही उपनिषदों का लक्ष्य है। संसार के सभी प्राणियों को सुख अभीष्ट है परन्तु यह सुख कहाँ है तथा इसे कैसे प्राप्त किया जाए? यह प्रत्यक्ष दृष्ट है कि मनुष्य को कितना बड़ा कष्ट हो,

चिन्ता हो, मानसिक व्यथा अथवा थकान हो परन्तु निद्रा के पश्चात् उसके दुःख या कष्ट क्षणिक रूप से दूर हो जाते हैं। इन्द्रियाँ एक नवीन ऊर्जा से युक्त हो जाती हैं। परन्तु प्रश्न उठता है कि इन्द्रियों को यह शक्ति कहाँ से मिलती है? उत्तर में कहा जा सकता है कि वे एक आनन्द सागर में जहाँ शक्ति का भंडार है, जहाँ सब प्रकार की शान्ति है वहाँ पहुँचकर अपने सामर्थ्यानुसार अपने अनुरूप शक्ति का संचय कर लेते हैं। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—

स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते ।

एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ।¹²

हे सौम्य! जिस प्रकार पक्षी संध्या के समय अपने बसेरे में जाकर विश्राम करते हैं, ठीक उसी प्रकार सब इन्द्रियाँ पंचभूत, पंचतन्मात्राएँ मन सहित उस परब्रह्म परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। वैदिक स्थापना है कि जीव मूलतः दिव्य का अंश या रूप है और अपने दिव्यत्व को पूर्णता में विकसित कर वह दिव्य में परिणत हो सकता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णदुच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।¹³

पूर्ण से ही पूर्ण की उत्पत्ति होती है अर्थात् कारण स्वरूप ब्रह्म की पूर्णता से कार्यात्मक पूर्ण ब्रह्म की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म सम्पूर्ण जगत का अधिष्ठानभूत कारण है। पृथ्वी पर अन्यत्र जितना भी दृश्यमान जगत है, वह तत्त्वतः उस ब्रह्म से ही व्याप्त है। सभी श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं—**यत्र तु सर्वमात्मैवाभूत्¹⁴, सर्वं खल्विदं ब्रह्म¹⁵, न तु तद द्वितीयमस्ति ।¹⁶** अज्ञान का निरास हो जाने पर वह ब्रह्म ही सब कुछ हो जाता है—**‘तस्मात् तत्सर्वमभवत्’¹⁷ ।**

आत्मतत्त्व स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा का साक्षात् अनुभव करता है। ‘मैं हूँ’ यह ज्ञान आलोचना अथवा संशय का विषय नहीं है तथा न ही आत्मा का निषेध किया जा सकता है क्योंकि निषेध कर्ता स्वयं आत्मा ही है। परन्तु व्यक्तिनिष्ठ आत्मा शुद्ध आत्मतत्त्व नहीं है। यह सत् असत् का मिथुनीकरण है। उपनिषदों में विदेहमुक्ति के साथ जीवन्मुक्ति भी सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। मोक्ष साधन केवल ज्ञान है। आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष है। आत्मा नित्य मुक्त है, अतः मोक्ष किसी नई अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है। वह तो आत्मा का ही निजी स्वरूप है।¹⁸ आत्मतत्त्व रूपी रहस्य का ज्ञान हो जाने पर संसार में दूसरी कोई वस्तु जानने योग्य शेष नहीं रह जाती है।

ऋषि शौनक ने महर्षि अंगिरा से उस परमतत्त्व के विषय में ही जिज्ञासा की जिसके जानने के पश्चात् कुछ शेष नहीं रह जाता – ‘कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।⁹ श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा है—¹⁰

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।

अविद्या निवृत्ति होते ही आत्मतत्त्व अपने शुद्ध चैतन्य और अखण्ड आनन्द स्वरूप में प्रकाशित होता है। जो ब्रह्म को जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है—‘ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। ब्रह्म की प्राप्ति यहीं इस लोक में और इसी जन्म में होती है। वृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा है कि मनुष्य को इसी शरीर में ब्रह्मप्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार सर्प केंचुल उतार के फेंकने के बाद उससे कोई मोह नहीं करता उसी प्रकार जीवन्मुक्त को अपने शरीर से कोई मोह नहीं रहता।¹¹ यही आत्मज्ञान हमें आत्यन्तिक दुःखों से निवृत्ति प्रदान करता है। इसको प्राप्त करने के लिए उपनिषद् हमें साधन रूप में साधना का निर्देश करती है। साधना के लिए विवेक और वैराग्य आवश्यक है। सत्-असत्, श्रेय-प्रेय का भेद ज्ञान विवेक है तथा आसक्ति का त्याग वैराग्य है। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार उन्हें अपनाता है तथा जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करता है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यद्रुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।

तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति, हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।¹²

अर्थात् श्रेय और प्रेय दोनों भिन्न मार्ग हैं। ये दोनों भिन्न भिन्न प्रयोजन के विषय में पुरुष को बाँधते हैं। उन दोनों में से श्रेयस् मार्ग कल्याणकारी तथा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है तथा प्रेय भोगों को प्राप्त कराने वाला मार्ग है। प्रेय का ग्रहण करने वाला पतित हो जाता है तथा अपने वास्तविक मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य से भटक जाता है। ये दोनों मार्ग एक दूसरे के विपरीत हैं। ये विद्या और अविद्या इस नाम से जाने गए हैं। ईशावास्योपनिषद् के कहा गया है।

‘विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।¹³

जो विद्या और अविद्या इन दोनों को साथ साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से अमरता को प्राप्त कर लेता है। अतः मनुष्य का उद्देश्य श्रेय मार्ग है परन्तु प्रेय का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए कि वह श्रेय का साधन बन जाय। कठोपनिषद् में नचिकेता यमराज द्वारा प्रदत्त समस्त प्रेय साधनों को अस्वीकार कर कहते हैं—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्व
वरस्तु मे वरणीयः सः एव ॥¹⁴

यहाँ धन एवं जीवन की समस्त भौतिक वस्तुओं के प्रति नचिकेता का विरोध नहीं है परन्तु भौतिक वस्तुओं की स्वीकृति अथवा आवश्यकता मात्र जीवननिर्वाह के लिए होने चाहिए। कल्याणप्रद मार्ग तो मात्र आत्मज्ञान ही है। वृहदारण्यकोपनिषद् में मैत्रेयी ने कहा कि जिससे मैं अमर न हो सकूँ, उसी लेकर मैं क्या करूँ –

येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम् ॥¹⁵

अतः धनादि को मात्र आत्मकल्याण का साधन ही बनाना चाहिए। जो मनुष्य विषय भोग की दृष्टि से केवल लोकोन्नति को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं और श्रेय की चिन्ता नहीं करते वे दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति कभी प्राप्त नहीं कर पाते। ज्ञान और कर्म का समन्वय ही जीवन में धर्म का स्वरूप है। धर्म का लक्षण करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है—

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस सिद्धिः स धर्मः ॥¹⁶

अर्थात् जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है। यहाँ अभ्युदय (उच्चतर लौकिक जीवन यापन का मार्ग) का हेतु है कर्मानुष्ठान तथा निःश्रेयस (आध्यात्मिक जीवन) का हेतु है ज्ञान साधना।

ईशावास्योपनिषद् में भी सांसारिक वस्तुओं के प्रति लोभ न करते हुए भौतिक वस्तुओं के त्यागपूर्वक उपभोग के लिए कहा गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यतकिञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥¹⁷

उसी प्रकार इसके मंत्र में निर्देश दिया है कि इस संसार में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए ॥¹⁸ इससे भिन्न कोई मार्ग नहीं है। मनुष्य कर्म में लिप्त न हो। ईशोपनिषद् के दोनों मंत्र ज्ञान से परिपूर्ण हैं। जीव का स्वभाव कर्म है जो उसके सुख दुःख का कारण होता है। सफलता में सुख तथा विफलता में दुःख होता है। वस्तुतः फल की इच्छा दुःख अथवा बन्धन का कारण होती है, अतएव 'न कर्म लिप्यते नरे' के द्वारा मनुष्य को कर्मफल में आसक्त न होते हुए कर्म मात्र में उसका अधिकार बताया गया है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफल हेतुभू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।¹⁹

परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो बिना फल की इच्छा के कोई कर्म किया नहीं जाता। मन्दबुद्धि पुरुष भी बिना किसी प्रयोजन के कर्म में प्रवृत्त नहीं होता—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।

अतः यहाँ शंका होती है कि फलेच्छा न होने पर उस कर्म की इष्ट साधनता का ज्ञान कैसे हो? इष्ट साधनता न होने पर कर्म में प्रवृत्ति कैसे होगी? जब कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होगी तो फलेच्छा रहित निष्काम कर्म कैसे संभव होगा? इसका समाधान करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—‘तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर’²⁰ अर्थात् आसक्ति रहित कर्म करो। कर्म अगर अपने सुख के स्थान पर दूसरों के सुख के लिए किया जाय, दूसरों के हित में किया जाय तब उस कर्म का स्वरूप ही बदल जाता है। उसमें दुःख नहीं सुख होता है।

इस प्रकार त्यागभाव से किए हुए कर्म पाप या अधर्म हो ही नहीं सकते। वे बन्धन का कारण नहीं बनते। ऐसे कर्म करते हुए सौ वर्ष तक अर्थात् पूरा जीवन जनसेवा के भाव से अथवा त्याग भाव से जीने की कामना करनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त औपनिषदिक दर्शन में मानव के लिए ऐहिक उन्नयन के भी तत्त्व दृष्टिगत होते हैं जो मानव को सच्चे अर्थों में श्रेष्ठ मानव बनाने का कार्य करते हैं। कठोपनिषद् में नैतिकता पर जोर देते हुए कहा है कि यदि हम दुष्कर्म से नहीं बचते, हमारा मन शान्त एवं एकाग्रचित नहीं है तो हम आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।²¹

हमारा जीवन नैतिकता से परिपूर्ण तथा समस्त बुराइयों से मुक्त होना चाहिए। श्वेताश्वतरोपनिषद् भी उपदेश देती है कि लक्ष्य तक पहुँचने के लिये हमें अपने स्वभाव को निर्मल करना चाहिए। अशुद्ध चंचल तथा चिन्ताग्रस्त अवस्था में ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार एक तेजोमय रत्न मिट्टी से लिप्त रहने के कारण छिपा रहता है, अपने असली रूप में प्रकट नहीं होता परन्तु वही जब मिट्टी आदि को हटाकर धो पोंछकर साफ कर लिया जाता है तब अपने असली रूप में चमकने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी मानसिक कल्मषों के दूर होने के पश्चात् ही ज्ञान से प्रकाशित होती है—

यथैव बिम्बं मृदयोलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।।²²

मनुष्य को स्वार्थपरता छोड़ अहंकार मुक्त होकर श्रेष्ठ पुरुषों से वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने हेतु तत्पर रहना चाहिए, यद्यपि यह मार्ग छुरे की तीक्ष्ण धारा की भाँति लाँघना अथवा चलना कठिन है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत् ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया ।

दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति ।।²³

उपनिषदों में सदाचार पर विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्मसूत्र पर रामानुज भाष्य में लिखा है—**आचारहीनं च पुनन्ति वेदाः**।²⁴ जीवन की तुलना एक यज्ञ से की गई है जिसमें तप, दान, साधुता, अहिंसा और सत्यवादिता ही दक्षिणा है।²⁵ तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों की एक विस्तृत सूची मिलती है। उसमें कहा है कि उसे सत्य सद्गुण, कल्याण, अभ्युदय, स्वाध्याय और उपदेश की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसे केवल वही कार्य करने चाहिए जो अनिन्दनीय हो।

इस प्रकार उपनिषद् दर्शन क्रियात्मक विद्या है काल्पनिक नहीं। मनुष्य अपने जीवन में उपनिषद् शिक्षा को व्यावहारिक रूप में लाकर स्वयं निर्दोषत्व प्राप्त कर सकता है तथा समाज को भी उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकता है। कामादि षड्रिपुओं से दूर रहकर ब्रह्मचर्य का पालन कर तथा शम दमादि साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर स्वयं आत्मज्योति पा लेता है। उपनिषदें बताती हैं कि मनुष्य अमृतपुत्र है, वह संयमी रहकर बड़ी सरलता से अमरता प्राप्त कर सकता है तथा ऐहिक अभ्युदय एवं पारलौकिक उन्नयन कर सकता है। उपनिषद् के प्रत्येक अमृत वचन कर्मफल का त्याग करके अथवा उसे ईश्वरार्पण करके निष्काम कर्मयोगी और लोकसंग्रही बनने की शिक्षा देते हैं। मात्र पुस्तक अध्ययन अथवा उपेदश श्रवण से ही आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ब्रह्मसूत्र कहते हैं कि— **आत्मज्ञान वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**।²⁶ उपदेश श्रवण एवं दर्शन के पश्चात् मनन ही उस आत्मज्ञान का साधक है। उपनिषदों में मानव के ऐहिक एवं पारलौकिक उत्थान, जीवनमूल्यों तथा नैतिकता सम्बन्धी तत्त्व सर्वत्र दृष्टव्य है। वस्तुतः आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य उपनिषदों के ऋषियों की महान देन है। उपनिषदों के पठन, चिन्तन एवं मनन द्वारा मनुष्य स्व व्यक्तित्व का परिष्करण कर

अपने दायित्त्वों का निवर्हन करते हुए अपने लिए परम कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम हो सकता है।

सन्दर्भ

1. छान्दोग्योपनिषद्. 7.1
2. प्रश्नोपनिषद्—चतुर्थ प्रश्न, मंत्र 7
3. ईशावास्योपनिषद्— शान्तिपाठ
4. वृहदारण्यकोपनिषद्—2.4.1.3
5. छान्दोग्योपनिषद् —3.14.1
6. वृहदारण्यकोपनिषद्—4.4.30
7. वृहदारण्यकोपनिषद्
8. छान्दोग्योपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्
9. मुण्डकोपनिषद्—प्रथम मुण्डक.3
10. श्वेताश्वतरोपनिषद्
11. वृहदारण्यकोपनिषद्—4.4.7
12. कठोपनिषद् 1.2.1
13. ईशावास्योपनिषद्—मंत्र
14. कठोपनिषद्—1.27
15. वृहदारण्यकोपनिषद्. 2.4.3
16. कणाद सूत्र 1.1.2
17. ईशावास्योपनिषद्—प्रथम मंत्र
18. 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' ॥ ईशा. 2
19. श्रीमद्भगवद्गीता 2.47
20. श्रीमद्भगवद्गीता 3.19

21. कठोपनिषद् 1.2.24
22. श्वेताश्वतरोपनिषद्. 2.14
23. कठोपनिषद् 1.3.14
24. वशिष्ठ धर्मशास्त्र 6.3
25. छान्दोग्योपनिषद्. 3.17
26. ब्रह्मसूत्र.4.1.1 वृहदारण्यकोपनिषद्-2.4.5